3

अथ वेदविषयविचारः

Learn it

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात् । तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति । तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात् । तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति । कुतः ? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात् । अत्र प्रमाणानि–

Learn it

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥'
कठोपनि० वल्ली २। मं० १५॥

'तस्य वाचकः प्रणवः ॥' योगशास्त्रे अ० १। पा० १। सू० २७॥

'ओ३म् खं ब्रह्म ॥' यजुः० अ० ४०॥

'ओमिति ब्रह्म ॥' तैत्तिरीयारण्यके । प्र० ७। अनु० ८॥

Learn it

'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥१॥

यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥२॥' मुण्डके १। खण्ड १ । मं० ५-६॥

एषामर्थः–(सर्वे वेदाः) यत्परमं पदं मोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति तदेवौङ्कारवाच्यमस्ति । (तस्य०) तस्येश्वरस्य प्रणव ओङ्कारो वाचकोऽस्ति वाच्यश्चेश्वरः । (ओम्०) ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति, तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति आसमन्तादभ्यस्यन्ति मुख्यतया प्रतिपादयन्ति, (तपांसि०) सत्यधर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति, (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थं, ब्रह्मचर्य्यगृहस्थ-वानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति । यद् ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च । हे नचिकेतः ! अहं यमो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि ॥१॥

(तत्रापरा०) वेदेषु द्वे विद्ये वर्त्तेते अपरा परा चेति । तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते । यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टा-स्तीति वेद्यम् ।

भाषार्थ–अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन कौन विषय किस किस प्रकार के हैं, इसका विचार किया जाता है । वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं–(१) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, (२) दूसरा कर्म, (३) तीसरा उपासना, और (४) चौथा ज्ञान है । 'विज्ञान' उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन

तीनों से यथावत् उपयोग लेना, और परमेश्वर से लेके तृणपर्य्यन्त पदार्थों का साक्षाद् बोध का होना उनसे यथावत् उपयोग का करना, **इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है ।** सो भी दो प्रकार का है—एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना, और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना, अर्थात् ईश्वर ने कौन कौन पदार्थ किस किस प्रयोजन के लिए रचे हैं । और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है ।

इसमें आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं—(सर्वे वेदा:०) परमपद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिसमें परब्रह्म को प्राप्त होके सदा सुख में ही रहना, जो सब आनन्दों से युक्त सब दु:खों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिसके नाम (ओम्) आदि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है । इसमें योगसूत्र का भी प्रमाण है—(तस्य०) परमेश्वर का ही ओङ्कार नाम है । (ओं खं०) तथा (ओमिति०) ओं और खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है, क्योंकि जगत् का वर्णन, दृष्टान्त और उपयोगादि का करना ये सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं तथा **सत्यधर्म के अनुष्ठान, जिनको तप कहते हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिए हैं,** तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप जो कर्म हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिए हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं । नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि हे नचिकेत: ! जो अवश्य प्राप्ति करने योग्य परब्रह्म है, उसी का मैं तेरे लिए संक्षेप से उपदेश करता हूं । और **यहां यह भी जानना उचित है कि अलङ्काररूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिए ।**

(तत्रापरा०) वेदों में दो विद्या हैं—एक अपरा, दूसरी परा । इनमें से अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक ठीक कार्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है । यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है ।

अन्यच्च—

तद्विष्णो॑: पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रय॑: । दि॒वी॑व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥१॥

ऋग्वेदे अष्टके १। अध्याये २। वर्गे ७। मन्त्र: ५॥

अस्यायमर्थ:—यत् (विष्णो:) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (परमं) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं (पदं) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यै: प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति तत् (सूरय:) विद्वांस: सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति, कीदृशं तत् ? (आततम्) आसमन्तात्ततं विस्तृतं यद्देशकाल-वस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति, अत: सर्वै: सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात् । कस्यां किमिव ? (दिवीव चक्षुराततम्) दिवि मार्त्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्तते, मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति । अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति ।

एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोऽप्याह–

'तत्तु समन्वयात् ॥' अ० १। पा० १। सू० ४॥

अस्यायमर्थः–तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति । क्वचित्साक्षात् क्वचित् परम्परया च । अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति । तथा यजुर्वेदे प्रमाणम्–

यस्मान्न जातः परोऽअन्यो अस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥

य० अ० ८। मं० ३६॥

एतस्यार्थः–(यस्मात्) नैव परब्रह्मणः सकाशात् (परः) उत्तमः पदार्थः (जातः) प्रादुर्भूतः प्रकटः (अन्यः) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति प्रजापालकत्वात् (य आविवेश भु०) यः परमेश्वरः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (आविवेश) व्याप्तवानस्ति (सꣳरराणः) सर्वप्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् (त्रीणि ज्योतीꣳषि) त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि (सचते) समवेतानि करोति कृतवानस्ति (सः) अतः स एवेश्वरः (षोडशी) येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन्यस्य वा तस्मात्स षोडशीत्युच्यते । अतोऽयमेव परमोऽर्थो वेदितव्यः ।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥ इदं माण्डूक्योपनिषद्वचनमस्ति ॥

अस्यायमर्थः–ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम् । यन्न क्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद् ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम् । अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगता वोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेऽतोऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्यम् । किं च नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति । 'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्य्यसम्प्रत्यय' इति व्याकरणमहाभाष्यवचनप्रामाण्यात् । एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति । तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्व उपदेशाः सन्ति । अतस्तदुपदेशपुरःसरेणैव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत्कर्तव्यमिति ।

भाषार्थ–और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि–(तद्वि०) । (विष्णुः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उसका (परमं) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदं) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है उसको (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं । वह कैसा है कि सब में व्याप्त हो रहा है, और उसमें देश काल और वस्तु का भेद नहीं है । अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं, तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं, इसी कारण से वह पद सब जगह में सब को प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है । इसमें यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है, और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है । उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिए विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं ।

इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है–(तत्तु समन्वयात्) । सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है । कहीं कहीं साक्षात्‌रूप और कहीं कहीं परम्परा से इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है ।

तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि–(यस्मान्न जातः०) । जिस परब्रह्म से (अन्यः) दूसरा कोई भी (परः) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रकट (नास्ति) अर्थात् नहीं है । (य आविवेश भु०) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है (प्रजापतिः प्र०) वही सब जगत् का पालनकर्त्ता और अध्यक्ष है, जिसने (त्रीणि ज्योतींॅषि) अग्नि, सूर्य और बिजुली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश के लिए (सचते) रचके संयुक्त किया है, और जिसका नाम (षोडशी) है, अर्थात् (१) ईक्षण जो यथार्थ विचार (२) प्राण जो कि सब विश्व का धारण करने वाला (३) श्रद्धा सत्य में विश्वास (४) आकाश (५) वायु (६) अग्नि (७) जल (८) पृथिवी (९) इन्द्रिय (१०) मन अर्थात् ज्ञान (११) अन्न (१२) वीर्य अर्थात् बल और पराक्रम (१३) तप अर्थात् धर्मानुष्ठान सत्याचार (१४) मन्त्र अर्थात् वेदविद्या (१५) कर्म अर्थात् सब चेष्टा (१६) नाम अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहाती हैं । ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं, इससे उसको षोडशी कहते हैं । इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के ६ छठे प्रश्न में लिखा है ।

इससे परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है । और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता है । इससे क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही की प्राप्ति कराने और प्रतिपादन करने में है । उस परमेश्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिए सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्य-देह धारण करने के फल हैं ।

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोऽस्ति । नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः । कुतः ? बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात् । स चानेकविधोऽस्ति । परं तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः–एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थाद्य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाऽऽज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते । अपरो लोकव्यवहारसिद्ध्ये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते ।

स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते । अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात् । यदा चार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकाम एव भवति । अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात् ।

स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते, स तद्द्वारा सर्वजगत् सुखकार्येव भवति । यं च भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयन्त्रसामाजिकनियम-प्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति ।

भाषार्थ–उनमें से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है, सो सब क्रियाप्रधान ही होता है । जिसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते, क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के

व्यवहार में सदा रहता है । वह अनेक प्रकार का है परन्तु उसके दो भेद मुख्य हैं–एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार । अर्थात् पहले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है । प्रथम जो परम पुरुषार्थरूप कहा उसमें परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों का कीर्तन उपदेश और श्रवण करना, (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी, (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषाणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना । सो उपासना वेद और पातञ्जल योगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिए तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है । 'न्यायाचरण' उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना । इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है । और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है ।

सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् **सब दुःखों से छूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिए धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना, यही निष्काम मार्ग कहाता है, क्योंकि इसमें संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती । इसी कारण से इसका फल अक्षय है । और जिसमें संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं, उसको सकाम कहते हैं** । इस हेतु से इसका फल नाशवान् होता है, क्योंकि सब कर्मों को करके इन्द्रिय भोगों को प्राप्त होके जन्म मरण से नहीं छूट सकता ।

सो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त जो कर्मकाण्ड है, उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है–एक सुगन्धगुणयुक्त, जो कस्तूरी केशरादि हैं, दूसरा मिष्टगुणयुक्त, जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारकगुणयुक्त, जो घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं, और चौथा रोगनाशकगुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि आदि हैं । इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिला के अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है, वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करने वाला होता है । इस से सब जगत् को सुख होता है । और जिस को भोजन, छादन, विमानादि यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिए करते हैं, वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देने वाला होता है ।

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्–

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ अ० ४। पा० ३। सू० १।।

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात् ॥ अ० ४ । पा० ३। सू० ८।।

अनयोरर्थः–द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम् । द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसम्पादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः। यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य स धूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेच्च तदा यः पूर्वं धूमवद्बाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन् सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति, तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति, तथैव यज्ञाद्यो वाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति । अतश्चोक्तम्–

यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति ॥ ऐ०ब्रा०पं० १। अ० २

Learn it

जनानां समूहो जनता, तत्सुखायैव यज्ञो भवति, यस्मिन्यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति । कुतः? तस्य परार्थत्वात् । यज्ञः परोपकारायैव भवति । अत एव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति । तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोध्यः । एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति ।

भाषार्थ–इसमें पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है–(द्रव्य०) एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार, और तीसरा उनका यथावत् उपयोग करना, ये तीनों बातें यज्ञ के कर्त्ता को अवश्य करनी चाहिए । सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है । जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उनमें छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुखी करता है, इससे वह यज्ञ परोपकार के लिए ही होता है।

इस में ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि–(यज्ञोऽपि त०) अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है, उसी के सुख के लिए यज्ञ होता है, और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है, वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा । इसलिये यज्ञ का अर्थवाद[1] यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनन्द को बढ़ाता है परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य होनी चाहिए । सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सब को उत्तम फल प्राप्त होता है, विशेष करके यज्ञकर्ता को, अन्यथा नहीं ।

Learn it

अत्र प्रमाणम्–

अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति॥

श० कां० ५। अ० ३॥

अस्यायमभिप्रायः–अग्नेः सकाशाद् धूमवाष्पौ जायेते । यदाऽयमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पति-जलादिपदार्थान् प्रविश्य तान् संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति, पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्य्याकाशं गच्छन्ति । तत्र यावान् जलरसांशस्तावतो वाष्पसंज्ञास्ति। यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यंशोऽस्ति । अत एवोभयभागयुक्तो धूम इत्युपचर्य्यते । पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे जलसञ्चयो भवति । तस्मादभ्रं घना जायन्ते । तेभ्यो वायुदलेभ्यो वृष्टिर्जायते । अतोऽग्नेरेवैता यवादय ओषधयो जायन्ते ताभ्योऽन्नमन्नाद्वीर्यं वीर्य्याच्छरीराणि भवन्तीति ।

भाषार्थ–इसमें शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है कि–(अग्ने०) जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं, उनसे धुंआ और भाफ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उनको भिन्न-भिन्न कर देता है, फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं । उनमें जितना जल का अंश है वह भाफ कहाता है, और जो शुष्क है वह पृथ्वी

---

१. इस शब्द का अर्थ आगे वेदसंज्ञा-प्रकरण में लिखा जायगा ।

का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है । जब वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उनसे वृष्टि, वृष्टि से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है ।

Extra

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तम्–

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।। आनन्दवल्ल्यां प्रथमेऽनुवाके ।।

स तपोऽतप्यत तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति विजानात् अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।। भृगुवल्ल्यां द्वितीयेऽनुवाके।।

अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते, जीवनस्य बृहद्धेतुत्वात् । शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति नातोऽन्यथेति ।

भाषार्थ–इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषत् का भी प्रमाण है कि–(तस्माद्वा०) परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, और उनमें ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं । यहां ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है, क्योंकि जिसका जो कार्य है वह उसी में मिलता है। वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था होती हैं, और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है, इससे अन्न को ब्रह्म कहते हैं । जब होम से वायु, जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं, तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सब को दुःख होता है । इससे इनकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिए ।

तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च । ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्य्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च । स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति । तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्टा-वोषध्यन्नरेतःशरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति । तन्मध्यमत्वाद् बलबुद्धिवीर्य्यपराक्रमधैर्य्य-शौर्य्यादयोऽपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते । कुतः ? यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्य्यं भवतीति दर्शनात् । अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति । कुतः ? दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात् । यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति, तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति। यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतमिति, यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान्भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति तथा यज्ञः कर्त्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति, तामपि य उल्लङ्घयति सोऽपि पापीयान् सन् क्लेशवांश्च भवति।

भाषार्थ–सो उनकी शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है–एक तो ईश्वर का किया हुआ और दूसरा जीव का । उनमें से ईश्वर का किया यह है कि उसने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है । वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से उपर खैंचता है । और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है । परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम कर देते हैं । उस जल की वृष्टि से ओषधि, अन्न, वीर्य और शरीर आदि भी मध्यम गुण वाले हो जाते हैं और उनके योग से बुद्धि,

बल, पराक्रम, धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी निकृष्ट ही होते हैं, क्योंकि जिसका जैसा कारण होता है, उसका वैसा ही कार्य होता है । यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है । सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है । इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है । जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है, मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है, वह अत्यन्त पापी होता है, और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है, इसको जो नहीं करता, वह भी पापी ही के दुःख का भागी होता है ।

कुतः ? सर्वोपकाराकरणात् । यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्ते भवितुमर्हति । कुतः ? तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात् । यत्तु खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुल्यं कुर्वन्ति, अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्त एव जायते । एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्त्तुमर्हन्ति ।

भाषार्थ–क्योंकि सब के उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है । **जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं, वहां उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है** । वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है । क्योंकि हस्ति आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिए इकट्ठा करते हैं, इस से उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है । इससे क्या आया कि जल वायु और वृष्टिजल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उस का निवारण करना भी उन को ही योग्य है ।

तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति । मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते । परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्त्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात् । अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये । अस्मात्कारणात्सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव ।

भाषार्थ–क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उनमें से मनुष्य ही उत्तम हैं, इससे वे ही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं । मनन नाम विचार का है, जिसके होने से ही मनुष्य नाम होता है, अन्यथा नहीं । क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष इस प्रकार के रचे हैं कि जिन से उन को ज्ञान की उन्नति होती है । इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं । इस से सब के उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है ।

किं च भोः । कस्तूर्य्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपणेन विनाशात् कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति । किं त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते, पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति ?

अत्रोच्यते–नात्यन्तो विनाशः कस्यापि सम्भवति । विनाशो हि यद् दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते ? अष्टविधं चेति । किं च तत् ? अत्राहुर्गोतमाचार्य्या न्यायशास्त्रे–

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥१॥
अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च ॥२॥
प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥३॥
आप्तोपदेशः शब्दः ॥४॥ अ० १ । आह्निकम् १। सू० ४। ५। ६। ७॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्टधा प्रमाणं मया मन्यत इति । तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात् सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते तत् प्रत्यक्षम् । सन्निकटे दर्शनान्मनुष्योऽयं नान्य इत्याद्युदाहरणम् ॥१॥

यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनो ज्ञानं जायते तदनुमानम् । पुत्रं दृष्ट्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्युदाहरणम्॥२॥

उपमानं सादृश्यज्ञानम् । यथा देवदत्तोऽस्ति तथैव यज्ञदत्तोऽप्यस्तीति साधर्म्यादुपदिशती-त्याद्युदाहरणम् ॥३॥

शब्द्यते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः। ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम्॥४॥

भाषार्थ–प्र०–सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं, उनको अन्य द्रव्यों में मिला के अग्नि में डालने से उन का नाश हो जाता है, फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता, किन्तु ऐसे उत्तम-उत्तम पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिए देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है, फिर यज्ञ करना किसलिये चाहिए ?

उ०–किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता, केवल वियोग मात्र होता है । परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किसको कहते हैं ? **उ०**–जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े, उस को हम विनाश कहते हैं । **प्र०–आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं ? उ०–आठ प्रकार का । प्र०**–कौन-कौन से ? **उ०**–प्रत्यक्ष १, अनुमान २, उपमान ३, शब्द ४, ऐतिह्य ५, अर्थापत्ति ६, सम्भव ७, और अभाव ८, इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं ।

(इन्द्रियार्थ०) इनमें से प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो । जैसे दूर से देखने में सन्देह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और, फिर उसके समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं, इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं ॥१॥

(अथ तत्पू०) और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो वह अनुमान कहाता है । जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इसके माता पिता आदि हैं, वा अवश्य थे, इत्यादि उसके उदाहरण हैं ॥२॥

(प्रसिद्ध०) तीसरा उपमान कि जिस से किसी का तुल्य धर्म देख के समान धर्म वाले का ज्ञान हो । जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है, उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है, उसके पास जाके इस काम को कर ला । इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है, उस को उपमान कहते हैं ॥३॥

(आप्तोप०) चौथा शब्दप्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय कराने वाला है । जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है, यह आप्तों के उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है ॥४॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥५॥

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥६॥

अ० २। आ० २ । सू० १। २॥

न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्तोऽर्थः क्रियते–

(ऐतिह्यम्) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ग्राह्यम् । देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादि ॥५॥

(अर्थापत्तिः) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः । केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति । किमत्र प्रसज्यते ? असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥६॥

(सम्भवः) सम्भवति येन यस्मिन्वा स सम्भवः । केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां सन्तानं जायते सम्भवोऽस्तीति वाच्यम् । परन्तु कश्चिद् ब्रूयात्कुम्भकरणस्य क्रोशचतुष्टयपर्यन्तं श्मश्रुणः केशा ऊर्ध्वंस्थिता आसन्, षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका चासम्भवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते, इत्याद्युदाहरणम् ॥७॥

(अभावः) कोऽपि ब्रूयाद् घटमानयेति, स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्त्तमानस्तस्मादानीयते ॥८॥

इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोऽर्थः । एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते । सत्यमेवमेतत् नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम् ।

भाषार्थ–(ऐतिह्यम्) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास है । जैसा 'देव और असुर युद्ध करने के लिए तत्पर हुए थे' जो यह इतिहास ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि सत्यग्रन्थों में लिखा है, उसी का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं । यह पांचवां प्रमाण है ॥५॥

और छठा (अर्थापत्तिः) जो एक बात किसी ने कही हो उस से विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे। जैसे किसी ने कहा कि बादलों के होने से वृष्टि होती है, दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि बादलों के विना वृष्टि कभी नहीं हो सकती । इस प्रकार के प्रमाणों से जो ज्ञान होता है, उस को अर्थापत्ति कहते हैं ॥६॥

सातवां (सम्भवः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है, तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो सम्भव है । परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि रावण के भाई कुम्भकरण की मूंछ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी और उसकी नाक (१६) सोलह कोश पर्यन्त लम्बी चौड़ी थी, उसकी यह बात मिथ्या समझी जायगी क्योंकि ऐसी बात का सम्भव कभी नहीं हो सकता ॥७॥

और आठवां (अभावः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम घड़ा ले आओ और जब उसने वहां नहीं पाया तब वह जहां पर घड़ा था वहां से ले आया ॥८॥

इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूं । यहां इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है[1]।

उ०–यह बात सत्य है कि इनके विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता। इस से इन आठों को हम लोग भी मानते हैं ।

१. कहीं कहीं शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति सम्भव और अभाव को मानने से (४) चार प्रमाण रहते हैं ।

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशे प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्य्यते । चक्षुषा दर्शनाभावात् 'णश अदर्शने' अस्माद् घञ्-प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति। अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति। किञ्च यदा परमाणवः पृथक् पृथक् भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात्। यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात्। यद्द्रव्यं विभक्तं विभक्तमन्तविभागानर्हं भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः । ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव ।

भाषार्थ–नाश को समझने के लिए यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मिट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फैंक दे, फिर जैसे वे छोटे-छोटे कण आंख से नहीं दीखते । क्योंकि (णश्) धातु का अदर्शन ही अर्थ है । जब अणु अलग-अलग हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है । और जब परमाणु के संयोग से द्रव्य स्थूल अर्थात् बड़ा होता है, तब वह देखने में आता है । और परमाणु इसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न हो सके । परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है । जिस की परिधि और व्यास बन सकता है । उसका भी टुकड़ा हो सकता है । यहां तक कि जब पर्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जायगा ।

तथैवाग्नौ यद् द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव । न हि तस्याभावः कदाचिद् भवति । एवं यद् दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादिद्रव्यमस्ति तच्चाग्नौ हुतं सद्वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महान् ह्युपकारो भवति सुखं चातः कारणाद्यज्ञः कर्त्तव्य एवेति ।

किं च भोः ! वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणेनैतत् सेत्स्यति, पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः ?

नैवं शक्यम् । नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात्। तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशाभावात् । तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्तमानत्वादारोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति ।

भाषार्थ–वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उसके अणु अलग-अलग होके आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता । इस से वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है । फिर उस से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है । इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिए ।

प्र०–जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करना मात्र ही प्रयोजन है तो इस की सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना?

उ०–यह कार्य अन्य किसी से सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है, उस को छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता, और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उस में हलकापन नहीं होता । उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता, क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशे प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्य्यते । चक्षुषा दर्शनाभावात् 'णश अदर्शने' अस्माद् घञ्-प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति। अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति। किञ्च यदा परमाणवः पृथक् पृथक् भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात्। यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात्। यद्द्रव्यं विभक्तं विभक्तमन्तविभागानर्हं भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः । ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव ।

भाषार्थ—नाश को समझने के लिए यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मिट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फेंक दे, फिर जैसे वे छोटे-छोटे कण आंख से नहीं दीखते । क्योंकि (णश्) धातु का अदर्शन ही अर्थ है । जब अणु अलग-अलग हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है । और जब परमाणु के संयोग से द्रव्य स्थूल अर्थात् बड़ा होता है, तब वह देखने में आता है । और परमाणु इसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न हो सके । परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है । जिस की परिधि और व्यास बन सकता है । उसका भी टुकड़ा हो सकता है । यहां तक कि जब पर्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जायगा ।

तथैवाग्नौ यद् द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव । न हि तस्याभावः कदाचिद् भवति । एवं यद् दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादिद्रव्यमस्ति तच्चाग्नौ हुतं सद्वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महान् ह्युपकारो भवति सुखं चातः कारणाद्यज्ञः कर्त्तव्य एवेति ।

किं च भोः ! वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणेनैतत् सेत्स्यति, पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः ?

नैवं शक्यम् । नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात्। तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशाभावात् । तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्तमानत्वादारोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति ।

भाषार्थ—वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उसके अणु अलग-अलग होके आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता । इस से वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है । फिर उस से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है । इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिए ।

प्र०—जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करना मात्र ही प्रयोजन है तो इस की सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना?

उ०—यह कार्य अन्य किसी से सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है, उस को छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता, और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उस में हलकापन नहीं होता । उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता, क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का

प्रवेश नहीं हो सकता । फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं होते ।

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते, तदाऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्य्याकाशं गच्छति । तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति । तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते ।

भाषार्थ—और जब अग्नि उस वायु को वहां से हलका करके निकाल देता है, तब वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है । इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है, सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के, उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके, रोगों का नाश करने वाला होता और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त कराता है ।

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा वृष्ट्याधिक्यमपि करोति । तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते । एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति । तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम् ।

भाषार्थ—जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होम द्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता है और उस से वृष्टि भी अधिक होती है, क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है । शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती हैं । ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक सुख बढ़ता है । यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है । इससे होम का करना अवश्य है ।

अन्यच्च दूरस्थले केनचित्पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते, तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति । सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव । अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति । तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति, पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति । परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात्तैर्न विज्ञायते । अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति ।

भाषार्थ—और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है, सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने से उस को यह ज्ञान होता है कि यहां सुगन्ध वायु है । इस से जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है, और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त सूक्ष्म होके जाता आता है । परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है, तब उसके नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है, फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा । परन्तु यह उन को अवश्य जानना चाहिए कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है । इन से अन्य भी होम करने

के बहुत से उत्तम फल हैं, उन को बुद्धिमान् लोग विचार से जान लेंगे ।

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति, तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति, पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते ?

अत्र ब्रूमः—एतस्यान्यदेव फलमस्ति । किम् ? यथा हस्तेन होमो नेत्रेण दर्शनं त्वचा स्पर्शनं च क्रियते तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते । तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते । होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं, तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च । अन्यच्च, सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्य्येत्युपदेशः । यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात् सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम् ।

भाषार्थ—प्र०—होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है ?

उ०—उन के पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है । प्र०—वह क्या है ? उ०—जैसे हाथ से होम करते, आंख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं, वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं । क्योंकि उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है । तथा होम से जो जो फल होते हैं उनका स्मरण भी होता है । वेदमन्त्रों के वारंवार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं, और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न हो जाय, क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है । सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है । इसलिए सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है ।

कश्चिदत्राह—वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तत्र क्रियेत तदा किं दूषणमस्तीति ?

अत्रोच्यते—नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति । कुतः ? ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च । यद्यद्धि यत्र क्वचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम् यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद् बहिरिति च । अत्रार्थे मनुराह—

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्य्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥१॥ अ० १। श्लो० ३॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥२॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥३॥ अ० १२ श्लो० ९७, ९९॥

भाषार्थ—प्र०—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़ के दूसरे का पाठ करें तो क्या दोष है ?

उ०—अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता । क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य होता है वैसा अन्य का नहीं । और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि, आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जानके कहता है, उसका भी वचन सत्य ही होता है । और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक ठीक नहीं हो सकता । इस से यह निश्चय है कि जहां जहां सत्य दीखता और सुनने में आता है, वहां

वहां वेदों में से ही फैला है, और जो जो मिथ्या है सो सो वेद से नहीं, किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है। क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता। इस विषय में मनु का प्रमाण है कि–

(त्वमे०) मनु जी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयम्भू जो सनातन वेद हैं, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं, और जिन में सब सत्यविद्याओं का विधान है, उन के अर्थ को जानने वाले केवल आप ही हैं ॥१॥

(चातु०) अर्थात् चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं ॥२॥ क्योंकि–

(बिभर्ति०) यह जो सनातन वेदशास्त्र है, सो सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त करता है, इस कारण से हम लोग उस को सर्वथा उत्तम मानते हैं और इसी प्रकार मानना भी चाहिए। क्योंकि सब जीवों के लिए सब सुखों का साधन यही है ॥३॥

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः, प्रणीतादीनि पात्राणि, कुशतृणं, यज्ञशाला, ऋत्विजश्चैतत्सर्वं करणीयमस्ति ?

अत्र ब्रूमः–यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्त्तव्यं नेतरत्। तद्यथा–भूमिं खनित्वा वेदी रचनीया, तस्यां होमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति। तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत्करणाद्रेखागणितमपि साध्यते। तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्यापि गृह्यते। एवमेवोत्तरेऽपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्येव। परन्त्वेवं प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्यादेवं पापमिति। यदुच्यते, तत्र पापनिमित्ताभावात्सा कल्पना मिथ्यैवास्ति। किन्तु खलु यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति, तत्तदेव ग्राह्यम्। कुतः ? तैर्विना तदसिद्धेः।

भाषार्थ–प्र०–क्या यज्ञ करने के लिए पृथिवी खोद के वेदिरचन, प्रणीता, प्रोक्षणी और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का करना, यह सब करना ही चाहिए ?

उ०–करना तो चाहिए, परन्तु जो जो युक्ति सिद्ध हैं, सो सो ही करने के योग्य हैं। क्योंकि जैसे वेदि बना के उस में होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न भिन्न परमाणुरूप होके, वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है, ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने और होम का साकल्य इधर उधर बिखरने से रोकने के लिए वेदि अवश्य रचनी चाहिए। और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणितविद्या भी जानी जाती है कि जिस से त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो। तथा उसमें जो ईंटों की संख्या की है उस से गणितविद्या भी समझी जाती है। इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी चौड़ी और गहरी वेदि हो तो उस में इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी, इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन है। तथा सुवर्ण, चांदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उनमें जो घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं वे बिगड़ते नहीं। और कुश इसलिये रखते हैं कि जिस से यज्ञशाला का मार्जन हो, और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदी की ओर अग्नि में न गिरने पावें। ऐसी ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिस से अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे, और वेदि में कोई पक्षी किंवा उन की

बीट भी न गिरे । इसी प्रकार ऋत्विजों के विना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता, इत्यादि प्रयोजन के लिए यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिए । इन से भिन्न द्रव्य की शुद्धि और संस्कार आदि भी अवश्य करने चाहिए । परन्तु इस प्रकार से प्रणीतापात्र रखने से पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है, इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है । किन्तु जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य अच्छा बने, वही करना अवश्य है, अन्य नहीं ।

यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते ?

याश्च वेदोक्ताः अत्र प्रमाणानि–

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्य्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥१॥

यजुः अ० १४ । मं० २०॥

अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादि-देवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात् । यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते, स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः सूर्य्यश्चन्द्रमा वसवो रुद्रा आदित्या मरुतो विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चेत्येतच्छन्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते । तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्परमाप्तेश्वरेण कृतसङ्केतत्वाच्च ।

भाषार्थ–प्र०–यज्ञ में देवता शब्द से किसका ग्रहण होता है ?

उ०–जो जो वेद में कहे हैं, उन्हीं का ग्रहण होता है, इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि–(अग्निर्देव०) कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं वे ही देवता कहाते हैं । और इन वेदमन्त्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है । इसमें यह कारण है कि जिन जिन मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द हैं, उन उन मन्त्रों का और उन उन शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है । मन्त्रों का देवता नाम इसलिए है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ।

अत्राह यास्काचार्य्यो निरुक्ते–

कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ॥ निरु० अ० १ । खं० १॥

अथातो दैवतम् । तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा । यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च ॥

नि० अ० ७। खं० १॥

अस्यार्थः–(कर्मसं०) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च सम्पत्तिः सम्पन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते । तथा च कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपि मन्त्रो मन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्य्यः

अथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते, यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते। यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा–